SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

प्राचीन भारत में करारोपण संबंधी सिद्धांत का पुनरावलोकन (1500 ई. पू. से 183 ई. पू. तक)

अनुबाला सुमन, शोधार्थी, **अशोक कुमार मण्डल,** Ph.D., शोध निर्देशक, इतिहास विभाग
विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखण्ड, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Authors
अनुबाला सुमन, शोधार्थी
अशोक कुमार मण्डल, Ph.D.

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 06/01/2024
Revised on : -----
Accepted on : 07/03/2024
Overall Similarity : 03% on 28/02/2024

शोध सार

प्राचीन कालीन भारत में राजकीय आय का मुख्य साधन कर था, अतः जैसे–जैसे राज्यों का निर्माण किया गया कर व्यवस्था भी विकसित होने लगी। विभिन्न स्त्रोतों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल से राजनीति ज्ञान एक मान्य शाखा के रूप में प्रतिष्ठित हो रही थी साथ ही आर्थिक व्यवस्था भी सामान्तर रूप से फलीभूत हो रही थी। राज्य की आवश्यकता और प्रजा की आर्थिक स्थिति के अनुसार करारोपण के सिद्धांत में भी परिवर्त्तन होने लगे। कर व्यवस्था की प्रारंभिक जानकारी हमें ऋग्वेद से मिलती है इसमें राजा को 'बलिहृत' कहा गया है।[1] अतः यह एक ऐसा कर था जिसे प्रजा द्वारा स्वेच्छा से अपनी उपज का एक अंश कर के रूप में दिया जाता था। यह स्वेच्छाचारी कर कालान्तर में नियमित हो गया। ऋग्वेद के बाद महाभारत के शांतिपर्व, ब्राह्मण, स्मृतियों, और अर्थशास्त्र आदि जैसे आधार ग्रंथो में पहली बार राजस्व के स्त्रोतों की वर्गीकृत सूचियाँ प्रत्येक कर की परम्परागत दरों के साथ प्राप्त होती है। अधिक महत्व की बात यह है कि इन्ही स्त्रोतों में पहली बार कराघान के सामान्य नियमों या सूत्रों तथा विशेष करों के आरोपन संबंधी सिद्धांतो को सुनियोजित रूप से निर्धारित किया गया है। उपरोक्त कथनों की जानकारी हमें विभिन्न आचार्य व धर्मशास्त्रकारों द्वारा वर्णित सिद्धांतो के आधार से प्राप्त होता है जिनमें प्रमुख नीतिशास्त्री निम्न हैं मनु, शुक्र, सोमदेव, कामंदक, कौटिल्य आदि इन विधि निर्माताओं एवं नीतिशास्त्रीयों ने कर व्यवस्था के सिद्धांतो को अनेक आधारों पर समझाने का प्रयास किया है जिसमें करारोपण के अनेक साधनों के विस्तृत वर्णन के साथ–साथ उनकी सीमाएँ भी तय की गई है।

मुख्य शब्द

राजस्व व्यवस्था, करारोपण, धर्मशास्त्र, वित्तव्यवस्था, नीतिशास्त्रियों, कर.

भूमिका

आधुनिक भारत के महान वित्त मंत्री जेम्स विल्सन ने अपने आंकलन के आधार पर कहा कि ''वित्त अंकगणित नहीं है, वित्त एक महान नीति है' बिना मजबूत वित्त के कोई मजबूत सरकार संभव नहीं है और बिना मजबूत सरकार के कोई मजबूत वित्त संभव नहीं है।'' वास्तव में वित्त ही राज्य का जीवन श्वास है। आधुनिक समाज में भी इसका सर्वग्राही महत्त्व निर्विवाद रूप से स्थापित है। विल्सन के कथन का गहरा सत्य वास्तव में उतना ही पुराना है जितना की जिस दिन पहली बार राज्य और सरकारें बनी थी। प्राचीन राज्यों के बारे में जब हम विचार करते हैं तो सबसे पहला प्रश्न विचार किया जाना चाहिए कि क्या इस काल के वित्तपोषको ने वित्त को उसी प्रकार माना जैसा की आज हम इसकी महत्ता देखते हैं और यदि हाँ तो इसे कितने दूर तक व्यवस्थित किया गया तथा किन मूलभूत सिद्धांतो पर इसकी रूप–रेखा को तैयार किया गया था। तथ्यों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मौर्यों मे वित्तव्यवस्था के असाधरण महत्त्व को पूरी तरह पहचाना कौटिल्य के शब्दों में, ''वित्त पर सभी उपक्रम निर्भर करते हैं इसलिए सबसे पहले ध्यान दिया जाना चाहिए कोषागार पर।''

कोषपूर्वाः सर्वारम्भाः। तस्मात् पूर्व कोषमवेक्षेत।।[2]

आगे अर्थशास्त्र में कहा गया है कि यदि प्राप्तियाँ और खर्च इन दोनों का पालन–पोषण होता है, तो राजा कभी भी खुद को वित्तीय या सैन्य कठिनाइयों में नहीं पाता है।[3]

राजकर को निर्धारित करने के सारे सिद्धांत एवं नीति–नियम यद्धपि धर्म–ग्रन्थों तथा प्राचीन विचारकों द्वारा निर्धारित कये गये, जिसमें समाज की स्वीकृति भी अनिवार्य थी। इस प्रकार धर्मशास्त्र द्वारा निर्धारित कर व्यवस्थाओं पर प्रायः किसी प्रकार के अवरोधों का उल्लेख हमें प्राप्त नहीं होता। अतः कहा जा सकता है कि अनेक सिद्धांतों पर आधारित इन कर व्यवस्थाओं का अतिक्रमण करने का साहस बड़े से बड़े शासक भी नहीं कर सके।[4]

अध्ययन क्षेत्र

प्राचीन काल में प्रशासनिक राजतंत्र के उदय के साथ इसे सुचारू रूप से चलाने हेतु राजस्व–व्यवस्था की आवश्यकता पड़ी। अतः जो राजस्व प्रणाली वैदिक काल में अपने गर्भावस्था में थी मौर्य काल तक आते–आते अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार बन गई, इसलिए अर्थशास्त्र में राज्य की राजस्व व्यवस्था पर काफी गम्भीरता से और सावधानीपूर्वक विचार किया गया है। काफी सूझ–बूझ के साथ करारोपण के सिद्धांतो का निर्धारण विभिन्न आचार्य, शास्त्रकारों एंव विद्वानों द्वारा किया गया है। अतः इनके द्वारा वर्णित विवरणों के आधार पर हम प्राचीन काल के कर सिद्धांतो को निम्नलिखित (वैदिककाल से मौर्यकाल तक के विषेष संदर्भ में) कालों में विभाजित कर अध्ययन करेंगे।

ऋग्वैदिक एवं उत्तरवैदिक काल में कर व्यवस्था के सिद्धांत

लिखित साक्ष्यों के अभाव में यद्यपि सिन्धु घाटी की कर–व्यवस्था के रूप के विषय में निश्चित रूप से कुछ कह पाना मुश्किल है, हालाँकि वैदिक साहित्य से इस विषय में कुछ जानकारी अवश्य प्राप्त होती है। ऋग्वैदिक काल में कबिलाई संगठन के रूप में लघुराज्य (जन) होते थे जो अपने प्रारम्भिक अवस्था में होने के कारण कर के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट नियम या सिद्धांत नहीं बना सके। इस काल में राजा कबीले की रक्षा करता था तथा अन्य कबीलों से अपने कबीले के बचाव हेतु उनेक विरूद्ध युद्धों में भाग लेता था। अतः कबीले के लोग राजा को अपनी इच्छा से 'बालि' (कर) देते थे। डॉ. एन. एन. खेर के अनुसार यह लोगों द्वारा राजा को दिया जाने वाला ऐच्छिक कर अथवा देवताओं को अर्पित नैवेध था।[5] इससे स्पष्ट होता है कि कर का प्रारम्भिक सिद्धांत यह था कि देवताओं की भाँति राजा को भी उसका भाग स्वेच्छा से दिया जाएगा। डॉ. के. पी. जायसवाल के अनुसार इस काल से ही व्यवस्थित एवं नियमित कर व्यवस्था के सिद्धांतो का प्रचलन हो चुका था।[6] लेकिन संभवतः 'बलि' इस काल की नियमित रूप

से ली जाने वाली कर व्यवस्था नहीं थी। डॉ. यू. एन. घोषाल के अनुसार भी ऋग्वेद के साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से कह सकना सम्भव नहीं है कि उत्तरवैदिक काल की भाँति 'बलि' इस काल में एक अनिवार्य कर बन गया था।[7]

उत्तर वैदिक कालीन कर संरचना संबंधित सिद्धांत के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इस काल में व्यवस्थित रूप से राज्य उदय के अनुरूप ही करों का ढाँचा भी व्यवस्थित रूप ले रहा था। साहित्यों के साक्ष्यों से यह प्रतीत होता है कि इस काल अवधि में बलि एक नियमित कर के रूप में स्थापित हो गया था। अथर्ववेद में पुनः राज्य प्राप्त करने वाले एक राजा के विषय में कहा गया है कि उसे अधिक मात्रा में उपहार एवं बलि प्राप्त हो।[8] अतः इससे प्रकट होता है कि उत्तरवैदिक काल में लोग राज्य को नियमित रूप से कर दिया करते थे।[9] इस काल में भी कर प्राप्त करने का मुख्य सिद्धांत प्रजाजनों की रक्षा एवं संरक्षण पर ही आधारित था। समकालीन साहित्य में उद्धृत व्यवहृत राष्ट्रपति (अर्थात् राज्य का स्वामी) एवं राष्ट्रभृत्य[10] (अर्थात् राज्य का पालक) जैसे शब्दों से स्पष्ट होता है कि राजा अपने राज्य का संरक्षण करता था जिसके बदले प्रजा (विष) उसे कर देते थे।[11] अतः ऋग्वैदिक काल में जो 'बलि' स्वेच्छा से दी जाने वाली भेंट थी, उत्तरवैदिक काल में यह अनिवार्य रूप से दिए जाने वाले करों में परिवर्तित हो गई। करों में छूट का सिद्धांत भी इस काल में पाया जाता है। इस काल में समाज में कुछ ऐसे वर्ग थे जिन्हें राज्य की ओर से करों में छूट थी। डॉ. ओम प्रकाश का मानना है कि क्षत्रिय और ब्राह्मण करो से मुक्त थे, क्योंकि वे उत्पादन करते ही नहीं थे।[12]

सूत्र काल में कर सम्बन्धी सिद्धांत

सूत्र काल में करो के आरोपण संबंधी कुछ आदर्श एव मूलभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया था जो कर निर्धारण एवं वसूली एवं उसमें छूट हेतु न्याय पर आधारित नैतिक मूल्यों पर आधारित था। इस काल में भी करों का मूल सिद्धांत प्रजा की रक्षा और कल्याण था, अतः राजा को कर इसलिए देय माना गया, क्योंकि राजा की स्थिति को प्रजापालक के रूप में माना गया। बौधायान में उल्लेखित है कि प्रजा अपनी उपज का षष्ठांश राजा को उसकी रक्षा के लिए वेतन स्वरूप देती है।[13] अतः राजा प्रजा की सुरक्षा के लिए अनुबंधित माना गया करों का मनमाने ढंग से संकलन निषेध माना गया। आपस्तम्ब ने विधान किया है कि राजा केवल न्यायोचित कर वसूले। कुछ विशिष्ट समूहों में कर की छूट का भी सिद्धांत व्याप्त था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार, समाज में कुछ विशिष्ट लोग कर से मुक्त थे, यथा–क्षत्रिय, राज्यकर्मचारी, विद्यार्थी, सभी वर्णों की स्त्रियां, बालक, वृद्ध, तपस्वी शुद्र इत्यादि।[14]

महाकाव्य काल में कर संबंधित सिद्धांत

इस काल के प्राप्त लिखित ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि कर व्यवस्था का मूल सिद्धांत लोकेच्छा पर आधारित था तथा राजा को कोई भी कर जनता के विरूद्ध नहीं प्राप्त करना था। महाभारत के शान्तिपर्व के दो अध्यायों मे संभवतः पूर्ण करों का विवरण प्राप्त होता है जबकि अतिरिक्त स्त्रोंतो मे इससे संबंधित समर्थक तथा पूरक तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है।[15]

राज्यकर से सम्बन्धित प्रथम सिद्धांत यह था कि राजा करों का निर्धारण अपनी इच्छा से नहीं कर सकता था। कर दण्डनीतिशास्त्र में उल्लेखित व्यवस्था के अधीन ही निर्धारित किये जाते थे। उक्त कथनों की पुष्टि वाल्मीकि के रामायण से होती है जिसमें उल्लेखित है कि राजा धर्मपूर्वक कर–ग्रहण करते थे।[16] अनेक राजाओं ने शिलालेखों तक में गर्व के साथ इस बात को उद्धृत किया है कि वे धर्म के अनुरूप ही कर वसूला करते थे।[17] करारोपण से संबंधित दूसरा सिद्धांत था राजा को प्राप्त कर उसके वेतन के रूप में प्राप्त होगा जिसकी पुष्टि महाभारत के शान्तिपर्व से होती है जिसमें उल्लेखित है कि भीष्म पितामाह राजा युधिष्ठिर को प्रजा से कर प्राप्त करने का उल्लेख करते हुए स्पष्ट बतलाते हैं कि बलि, शुल्क, दण्ड आदि करों के द्वारा जो धन प्राप्त होता था वह राजा का वेतन होगा।[18] इस काल में तीसरा सिद्धांत प्रजा से परिपुष्ट के आधार पर राजकोष के लिए कर प्राप्त करना था। इसका अर्थ यह है कि प्रजा जब हर प्रकार से समृद्ध और सम्पन्न हो जाए और स्वयं उत्सुक हो धन दान हेतु तभी कर लगाने चाहिए। इसकी पुष्टि महाभारत में गाय माता और माली के दृष्टान्त से की गई है जिसमें कहा गया है कि जैसे गाय से दूध

पाने के अभिलाषी को गाय दुहने से पहले उसकी सेवा कर उसे तृप्त करना चाहिए और जब वह गाय अपना दूध दुहाने के लिए स्वयं आतुर हो तब ही उसका दूध दुहना चाहिए।[19] चौथा सिद्धांत प्रजा के रक्षा निमित्त धन संचय के लिए प्रजा पर कर आरोपित करने का अधिकार राजा को दिया गया था। वाल्मीकि के रामायण में राजा को प्रजा की रक्षा करने के लिए बाध्य बताया गया है, क्योंकि वह प्रजा से उनके सभी कर्मो का षष्ठांस प्राप्त करता था। अनुशासन पर्व में भी उल्लेखित है कि यदि राजा प्रजा से कर वसूलता है तो यह कह कर की वह उनकी रक्षा करेगा और यदि वह ऐसा करने में असफल होता है तो वह पागल कुत्ते की तरह सबके द्वारा मार डाले जाने योग्य बताया गया है।[20] अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है यदि राजा कर ग्रहण करने के बाद भी प्रजा की रक्षा नहीं कर पाता है तो उसे पदच्युत किया जा सकता था। कर का अन्य सिद्धांत था कि प्रजा पर कर का आरोपण उनके क्षमता के अनुसार ही निर्धारित किये जाए महाभारत के शान्तिपर्व में भी भीष्म ने प्रजा पर उनकी क्षमता से अधिक कर लगाने का निषेध किया है। वह अधिक कर लगाने का निषेध करते हुए कहते हैं कि प्रजा की सामर्थ्य, समय एवं परिस्थिति के अनुरूप नियमानुसार ही कर का निर्धारण करना चाहिए।[21] भीष्म का मानना था कि यदि राजा अत्यधिक कर की वसूली करता है तो प्रजा राजा के विरोधी हो जाती है तथा राजा के प्रति द्वेष उत्पन्न होने लगता है। महाकाव्य काल में करारोपण संबंधी अन्य सिद्धांत था कि करों की मात्रा में धीरे–धीरे वृद्धि होनी चाहिए जैसे बछड़ो को शनैः–शनैः भार वृद्धि कर उसे भार वहन करने योग्य बनाया जाता है। यदि इस नियम के विरूद्ध कार्य किया जाएगा तो बछड़ा अयोग्य हो जाएगा, इसी प्रकार प्रजा पर भी एकाएक कर का बोझ आने से वह विद्रोही बन जाएगी।

अतः उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि महाकाव्य कालीन कर प्राप्त करने के सिद्धांत सर्वथा तार्किक तथा उदार नीति पर आधारित थी।

बौद्ध काल में कर का सिद्धांत

बौद्ध काल में सामाजिक और आर्थिक रूप से महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे जिसमें मुख्य बदलाव सामाजिक जीवन में ब्राह्मणों के स्थान पर क्षत्रियों का वर्चस्व का स्थापित होना तथा आर्थिक रूप से समृद्ध नगरो का विकास होना था, फलस्वरूप दूसरी नगर क्रांति का उदय हुआ परिणामस्वरूप करों के सिद्धांत भी अत्यधिक व्यवहारिक और सुदृढ़ बनाए गए। हालाँकि पाली ग्रन्थों में कर संबंधी सिद्धांतों के विवरणों का अभाव है फिर भी उपलब्ध कुछ तात्कालिक बौद्ध तथ्यों से निम्नलिखित कर संबंधी सिद्धांतों का पता चलता है। राज्य कर के रूप में राजा स्वयं को केवल प्रजा के सेवक के रूप में कर प्राप्त करने का अधिकारी समझता था। दीर्घनिकाय में यह उल्लेख है कि जनसामान्य निर्वाचित हुए राजा को उसकी सेवा के बदले धान का एक अंश देने का निश्चय किया।[22] हालांकि इस काल में भी परम्परागत रूप से चले आ रहे करों के सिद्धांतो का विधिपूर्वक पालन किया जाता रहा। दीघनिकाय के अनुसार कर का एक अन्य सिद्धांत यह भी उद्धृत होता है कि उत्पीड़ित अथवा संकटग्रस्त जनता से बलि अथवा कर नहीं लेना चाहिए। हालांकि कुछ अन्य समकालीन स्त्रोतों के अध्ययन से ऐसा जान पड़ता है कि कुछ दुष्ट राजा द्वारा अवैध कर प्रजा पर आरोपित कर उन्हें सताया जाता था, परन्तु यह व्यावहारिकता पर आधारित है या नहीं, कहा नहीं जा सकता लेकिन इसमें कुछ सच्चाई अवश्य रही होगी, क्योंकि नंद राजा द्वारा बलपूर्वक करों को वसूल करने का उल्लेख महावंश से प्राप्त होता है।[23] अपनी आवश्यकतानुसार यथा करों को बढ़ाने, नए कर लगाने एवं कुछ खास अवसरों में करों की छूट की व्यवस्था राजा कर सकता था जो बौद्ध काल में करारोपण के लोच के सिद्धांत को भी इंगित करता है।

मौर्य काल में करों का सिद्धांत

मौर्य काल में एक व्यवस्थित तथा सुसंगठित राज्य का उदय हुआ। चूंकि मौर्यो ने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, अतः उसकी सुरक्षा हेतु सुसंगिठत सेना का होना राज्य की प्राथमिकता थी। घोषाल के अनुसार राज्य की सुरक्षा के दो आधार थे कोष और सेना।[24] कोष का मूल स्त्रोत राजस्व था, अतः कोष कर राज्य की सुदृढ़ता निश्चित होती थी, इसलिए सुदृढ़ सिद्धांतो पर आधारित एक समृद्ध राजस्व प्रणाली का होना इस काल के शासकों की आवश्यकता थी। कौटिल्य को मौर्यकालीन कर प्रणाली का सिद्धांतकार माना जाता है जिसमे कर संग्रह के

तरिकों और संबंधित समस्याओं की विस्तार से चर्चा की गई है। इस काल में करारोपण सिद्धांत के अंतर्गत एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें करों की वसूली करने व उसे ठीक से जमा रखने से अधिक महत्व, कर निर्धारण को दिया जाता है।[25] सर्वोच्च शक्ति राजा के अधीन था, परन्तु फिर भी वह कर मनमाने ढंग से वसूल नहीं कर सकता था। परम्परागत रूप से कुछ सिद्धांत थे जो नीति ग्रंथो में भी प्रतिपादित थे जिसका पालन राजा को करना होता था। इस काल में करों का सिद्धांत इस प्रकार से निरूपित किया गया जिससे जनता का सर्वोत्तम हित प्राप्त किया जा सके। मौर्य काल के स्त्रोत ग्रन्थों में प्रतिपादित कर से सम्बन्धित सिद्धांत निम्नलिखित थेः राजस्व प्रणाली के सिद्धांत में सर्वप्रथम स्थान प्रजा के सुरक्षा भाव को दिया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कर को राजा का 'भागधेय' बताया गया है। इस भागधेय से भृत होकर राजा प्रजा का योगक्षेम सम्पादित करता है।

धान्यषड्भांग पण्यदषभागं हिरण्य चास्य भागधेय कल्पयामासुः।
तेन भृता राजानः प्रजां योगक्षेम वहाः। तेषां किलिवषं दण्डकर हरित।।[26]

अतः इस उल्लेख से स्पष्ट होता है कि कर वसूली में प्रजा की सुरक्षा का भाव निहित था, अर्थात् राज्य जो सुरक्षा प्रजा को प्रदान करती थी उसके बदले में प्रजा राजा को कर प्रदान करती थी। कौटिल्य का दूसरा मूल सिद्धांत है कि कर इस प्रकार वसूल किया जाय कि करदाता को कष्ट न हो और वह आगे भी कर देने की स्थिति में रहे जैसे मधुमक्खी के छत्ते से शहद निकाल लेने पर भी वह शहद का छत्ता लगाती रहती है।[27] करों का निर्धारण देश, काल करदाताओं की आर्थिक स्थिति आदि को भी ध्यान में रखते हुए किया जाता था, उदाहरण स्वरूप अशोक द्वारा लुम्बिनी गाँव के कर भार का कम किया जाना। आपातकाल की स्थिति में करों में वृद्धि की जा सकती थी। अर्थशास्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि व्यापारियों और शिल्पियों पर कर लगाते समय अनेक बातों के अतिरिक्त उनके कर दान क्षमता को भी ध्यान रखा जाता था। अतः लोगो के क्षमता के अनुसार ही कर आरोपित किये जाते थे। इस काल में कर का सिद्धांत प्रजा के पर्याप्त उत्पादन पर भी आधारित था, क्योंकि शासकों को ज्ञात था की राज्य को कर तभी मिल सकता है जब प्रजा प्रर्याप्त उत्पादन करें। कौटिल्य के अनुसार राजा को अपनी प्रजा से उतना ही कर लेना चाहिए जितनी सुग्मता से वे दे सके, क्योंकि अत्यधिक कर लगाने से प्रजा के पास पूँजी के अभाव की समस्या उत्पन्न हो जाएगी तथा राजा को चाहिए कि वह दुष्ट पुरूषों का धन उसी प्रकार ले जिस प्रकार माली पके हुए फल को उद्यान से तोड़ता है, किन्तु धर्मात्मा पुरूषों का धन वह उसी प्रकार छोड़ दे जैसे कच्चे फल को छोड़ दिया जाता है।

पक्वं पक्वमिवारमात् फलं राज्या दवारनुयात्।
आत्मच्छेदभयादामं वर्जयेत् कोपकारकम्।[28]

कर व्यवस्था मितव्ययिता के सिद्धांत पर भी आधारित थी। उल्लेखित है कि प्रजा से कर की वसूली इस प्रकार करनी चाहिए की राजकोष की वृद्धि हो तथा व्यय कम हो। मौर्य काल में आयात–निर्यात पर भी नियमित करों के सिद्धांत परिलक्षित होते हैं। यथा जो वस्तुएँ राष्ट्र के हित में न होकर केवल शौक के लिए हो तो अधिक कर तथा जो वस्तुएँ राष्ट्र के लिए लाभप्रद थी, उन्हें शुल्क मुक्त रखा जाता था। उत्पादक दल की वृद्धि हो सके इसलिए कर मूलधन में नहीं अपितु लाभ पर लेने का सिद्धांत था। अर्थ संकट के काल में भी कोष की वृद्धि हेतु अर्थशास्त्र में अनेक उपायों का उल्लेख है। परिस्थिति के अनुसार नियमित करों मे आवश्यकता के अनुसार अंशतः छूट या पूर्ण रूप से छूट देने के बारे में भी न्याय–संगत व्यवस्था का उल्लेख है।[29] कौटिल्य ने लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति अपने उद्योगों के अनुपयुक्त या बेकार भूमि को उपयोगी भूमि बनाने हेतु कृषि योग्य या सरोवर बना कर सिंचाई योग्य बनाता है तो राजा उससे नाममात्र का कर लेकर भूमि दे और फिर धीरे–धीरे उसमें वृद्धि करें और 4–5 वर्षो में सामान्य स्तर पर लाए। अतः उपर्युक्त साक्ष्य इस काल के करारोपण के लोच के सिद्धांत को इंगित करता है। इस काल में कर व्यवस्था समानता अथवा न्यायशीलता के सिद्धांत पर भी आधारित थी, क्योंकि इस काल के साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि तब भी धनिकों से अधिक तथा गरीबों एवं असहायों से कम कर की प्राप्ति की जाती थी तथा अर्थ संकट के समय यह सिद्धांत और व्यवहारिक हो जाता था। अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि ऐसे समय में राजा धनिकों से अतिरिक्त धन प्राप्त कर सकता था तथा आवश्यकता पड़ने पर राजा उनकी सम्पत्ति भी प्राप्त कर सकता था। अतः समकालीन स्त्रोत–ग्रन्थों के आधार पर कहा जा सकता है कि शासक कर–संग्रह में न्याय–सम्मत सिद्धांतों

का ही अनुकरण करता था। अतः कहा जा सकता है कि इस काल की करारोपण व्यवस्था परिस्थितिनुकुल एवं आवश्यकता अनुरूप समृद्धशाली सिद्धांतो पर आधारित थी।

निष्कर्ष

निष्कषर्तः कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में (वैदिक काल से मौर्य काल तक) राज्य की जनता से राजा को कर प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था, परन्तु राजा द्वारा यह कर निरंकुशता के आधार पर या मनमाने तरीके से नहीं वसुला जाता था। प्रजा को अनेदेखी कर, करों की वसूली करना राजा के लिए निषिद्ध था। हमने देखा की प्राचीन काल में कई धर्मशास्त्रो, विद्वानों नीतिशास्त्रों द्वारा करारोपण संबंधी स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं तथा राजा द्वारा भी इनका अनुपालन किया जाता था। इन निर्देशों में मूल रूप से प्रजा के कल्याण, उनकी समूचित रक्षा एवं अनुशासन के साथ–साथ देश काल परिस्थिति एवं जनता की आर्थिक क्षमता को भी समावेषित किया गया है। राज्य की भूमि और सम्पत्ति का सर्वोच्च स्वामी होने के बाद भी राजा के सम्बन्धी विशेषाधिकारों पर धर्मशास्त्रकारों एवं नीतिशास्त्रों का कठोर नियंत्रण स्थापित था जिसका पालन करना राजा के लिए अनिवार्य था जो शासक शास्त्रकारों द्वारा निरूपित कर सिद्धांत का पालन नहीं करता था, वह निन्दा का पात्र होता था जिसके परिणामस्वरूप जनता के असन्तोष और कोप का भागी बनता था। अतएव प्राचीन भारत में कर ग्रहण के सिद्धांत पर्याप्त रूप से अपनी विकसित अवस्था में थी। प्राचीन कालीन करों के सिद्धांतो का प्रभाव वर्तमान समय के करारोपण प्रणाली में भी परिलक्षित होता है। यह भी कहा जा सकता है कि तात्कालिक कर व्यवस्था काफी हद तक प्राचीन काल में परिचलित कर सिद्धांतों के आदर्शों पर ही आधारित है। आज भी करारोपण संबंधी सिद्धांत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना तथा उसकी सुरक्षा को सर्वोपरि स्थान दिया जाता है, साथ ही स्थान परिस्थिति व जनता के आर्थिक स्वरूप को देखकर ही कर आरोपित किये जाते हैं।

संदर्भ सूची

1. ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृषामसि।
अथो त इन्द्रः केवलीर्विषो बलिहृतस्करत्।। – ऋ.,ग,173.6।
2. वाचस्पति, गैरोला (2003) *अर्थशास्त्र,* हिन्दी अनुवाद चौखम्बा विधाभवन, चौथा संस्करण, वाराणसी, प्रकरण 24, अध्याय– 8 पृ. 109।
3. अर्थशास्त्र, बी. के. ट अध्याय – 3।
4. वाचस्पति, गैरोला, *अर्थशास्त्र,* पूर्वोद्धत, पृ. 56।
5. खेर, एन. एन. (1973) *एग्रेरियन एण्ड फिस्कल इकोनॉमी इन दि मौर्यन एण्ड पोस्ट– मौर्यन एज,* दिल्ली, पृ.– 294।
6. जायसवाल के. पी., (1943) हिन्दू राज्यतन्त्र खण्ड– II (हिन्दी अनुवाद रामचन्द्र वर्मा), चतुर्थ संस्करण, कासी, वि. सं. 2034, पृ. 67।
7. घोषाल, यू. एन. (1972) *कंट्रिव्यूशंस टू दि हिस्ट्री ऑफ हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम,* कलकत्ता, पृ. 8।
8. अर्थ., III, 4.3।
9. अलतेकर, अनंत सदाशिव (1958) *स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एंशियण्ड इंडिया,* मोतीलाल बनारसीदास, तृतीय संस्करण, दिल्ली, पृ. 263।
10. शतपथ ब्राह्मण, VII, 1.1.4।
11. बसु, जोगिराज (1969) *इण्डिया ऑफ द एज ऑफ द ब्राह्मणाज,* प्रथम संस्करण, कलकत्ता, श्यामपद भट्टाचार्य संस्कृत पुस्तक भण्डार, पृ. 17।

12. प्रकाश, ओम (1999) *प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास,* खं. II, चतुर्थ संस्करण, नई दिल्ली, पृ. 62।

13. षड्भागभृतो राजा रक्षेत्प्रजाम्।।
— बौत्र ध. सू. I, 10.18 ।।

14. पाण्डेय, उमेशचन्द्र (हिंदी अनुवाद) (1969) *आपस्तम्ब धर्मसूत्र,* चौखम्बा संस्कृत सीरीज, ऑफिस, वाराणसी, II , 10.26.10—17 ।

15. पोद्दार हनुमान प्रसाद, सम्पा0 (1955) *महाभारत शान्तिपर्व,* गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ. 87—88।

16. वा0 रामा0, अयोध्याकाण्ड, 105, 33।

17. एपिग्राफिया इण्डिका, खं0 III, पृ.— 60।

18. बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रनीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागम्प।।
महा0 शान्तिपर्व, 71, 10

19. यो हि दोग्ध्रभि पास्ते स च नित्यं विन्दते पयः।
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम्।।
महा. शान्तिपर्व, 71,

20. महाभारत, अनुषानपर्व, 61, 32।

21. न चास्थोन न चाकाले करांस्तेम्यो निपातयेत्।
आनुपूर्त्येन सान्तवेन यथाकालं यथाविधि।।
महा. शान्तिपर्व, 88,12

22. राएस डेविड्स, टी डब्लू. तथा कार्पेन्टर, जे. ई. (सम्पा.) (1890—1911), *दीधनिकाय,* खं. I—III, पी. टी. एस. लन्दन, पृ. 88।

23. कश्यप, जगदीश (सम्पा0) (1971) *महावंश टीका,* नालन्दा (पटना), पृ. 141—143।

24. घोषाल, यू. एन. (1929) *Hindu Admistrative Institutions*, कलकत्ता विश्वविद्यालय, p- 202।

25. थापर, रोमिला (1979) *भारत का इतिहास,* राजकमल प्रकाशन लि., पृ. 66।

26. वाचस्पति, गैरोला. *कौटिलीय अर्थशास्त्रम्,* पूर्वोद्धत पृ. 57।

27. कांगले, आर.पी. सम्पादित और अनूवादित, (1986) *कौटिल्य का अर्धशास्त्र* I, 12 भाग I-III, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

28. वाचस्पति, गैरोला. *कौटिल्य का अर्थशास्त्र,* पूर्वोद्धत, पृ. 419।

29. अलतेकर, अनंत सदाशिव, (1958) *स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशिण्ट इण्डिय,* तृतीय संस्करण, दिल्ली, पृ. 266।

****